लोकतंत्र का पाठ सीखें नामवर सिंह

अब विश्वविद्यालयों में एमफिल और पीएचडी करने वाले दलित छात्रों की भरमार है और लगभग हर फैकल्टी में दलित प्रोफेसर हैं। वे रीडर भी हैं, डीन भी हैं, विभागाध्यक्ष भी हैं, निदेशक भी हैं और कुलपति भी हैं और अगले दस-बीस सालों में इतना कुछ होने वाला है कि विश्वविद्यालयों में सवर्ण प्रभुओं की स्थिति न नियंत्रक की रह पाएगी और न निर्णायक की। नामवर सिंह की असल चिंता यही है

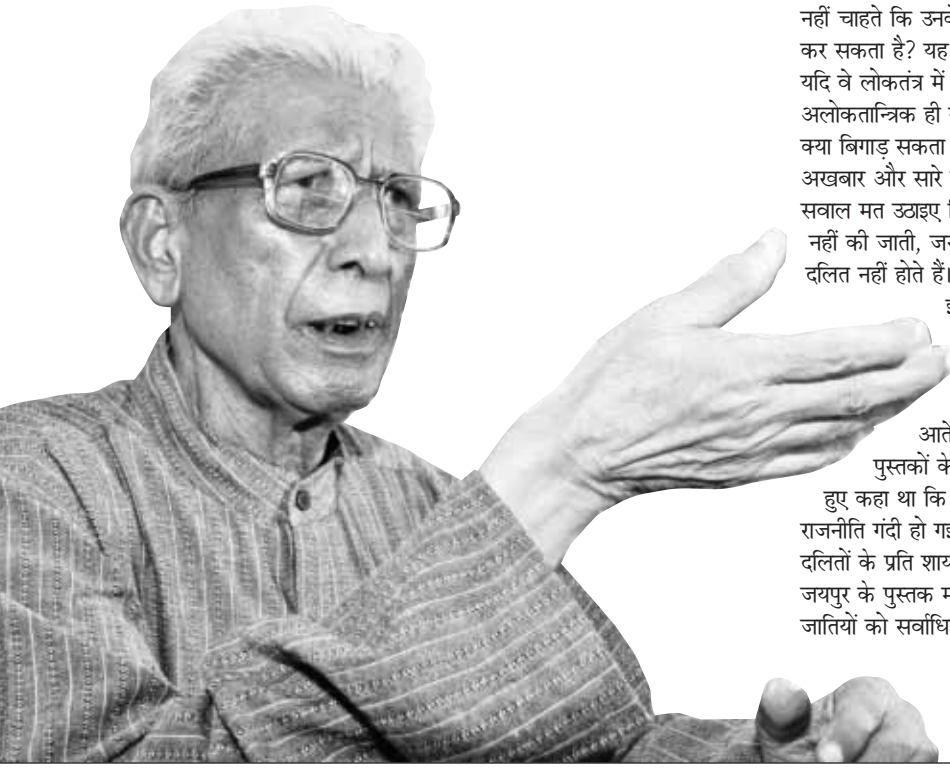

कंवल भारती

पता नहीं, साहित्य में आरक्षण का शिगूफा किस बेवकूफ ने छोड़ा कि नामवर सिंह की आत्मा बेचैन रहने लगी, मानो उनका सब कुछ चला गया। पता यह भी नहीं चल सका कि दलित लेखकों ने साहित्य में आरक्षण के लिए कब आवाज उठाई और कब आंदोलन चला ? पता यही है कि जो भी आंदोलन चले, वे राजनीतिक और शैक्षणिक संस्थाओं में आरक्षण के लिए चले हैं। साहित्य कोई संस्था नहीं है, जिसमें दलित लेखक आरक्षण चाहते हों। दलित लेखकों ने तो उन सरकारी संस्थाओं में भी आरक्षण नहीं मांगा, जबकि मांगना चाहिए, जहां नामवर सिंह जैसे द्विज लेखक कुंडली मारकर बैठे हुए हैं। हालांकि यह अलग बात है कि कुछ दलित लेखकों को भी कुछ लोकतान्त्रिक संस्थाओं में की-पोस्ट पर बैठने का लाभ मिल गया है।

जहां तक मीडिया में आरक्षण की बात है, वहां यही कहा जा सकता है कि हमारे देश का मीडिया निजी हाथों में है। वे अगर नहीं चाहते कि उनके क्षेत्र में दलितों का प्रवेश हो, तो कोई क्या कर सकता है? यह पूरी तरह लोकतान्त्रिक होने का मामला है। यदि वे लोकतंत्र में विश्वास नहीं करते और अपने क्षेत्र को अलोकतान्त्रिक ही बनाकर रखना चाहते हैं, तो रखें, उनका कोई क्या बिगाड़ सकता है ? निजी क्षेत्र की सारी पत्रिकाएं, सारे अखबार और सारे न्यूज चैनल इसी रास्ते पर चल रहे हैं। यहां यह सवाल मत उठाइए कि इनमें दलित मुद्दों और समस्याओं पर बात नहीं की जाती, जरूर की जाती है, लेकिन ये बात करने वाले दलित नहीं होते हैं। हां, लोकतान्त्रिक संतुलन का ढोंग बना रहे, इसके लिए वे कुछ समझौतावादी दलित लेखकों को भी अपने साथ रखने की कोशिश जरूर करते हैं।

पुनः साहित्य में आरक्षण के सवाल पर आते हैं। नामवर सिंह ने पिछले दिनों दिल्ली में दस पुस्तकों के विमोचन के अवसर पर लगभग चेतावनी देते हुए कहा था कि यदि साहित्य में आरक्षण दिया गया, तो जैसे राजनीति गंदी हो गई, वैसे ही साहित्य का क्षेत्र भी गंदा हो जाएगा। दलितों के प्रति शायद इसी गंदी टिप्पणी के आधार पर हाल में जयपुर के पुस्तक महोत्सव में आशीष नंदी ने दलित-पिछड़ी जातियों को सर्वाधिक भ्रष्ट वर्ग का दर्जा दिया था। आशीष नंदी के

इसी समय थोरात वाली यूजीसी ने अलग से दलित छात्रों के लिए राजीव गांधी छात्रवृत्ति योजना भी लागू की, जिसके तहत उन्हें एमफिल के लिए बारह हजार और पीएचडी के लिए सोलह हजार रुपये प्रति माह छात्रवृत्ति मिलने लगी। इससे पूर्व यूजीसी के किसी भी सवर्ण अध्यक्ष ने यह छात्रवृत्ति योजना लागू नहीं की थी

पिछली बार जब यूजीसी के अध्यक्ष पद पर दलित प्रोफेसर और अर्थशास्त्री डा. एसके थोरात की ताजपोशी हुई, तो उन्होंने केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में एमफिल और पीएचडी करने वाले सभी छात्रों को क्रमशः तीन हजार और पांच हजार रुपये प्रति माह की छात्रवृत्ति योजना लागू की, जो आगे चलकर क्रमशः पांच और आठ हजार रुपये प्रति माह हो गई थी

विरुद्ध तो कुछ दलित संगठनों ने दलित-एक्ट के तहत इसलिए मुकदमा दर्ज करा दिया, क्योंकि उनके बयान से राजनीतिकों को ठेस पहुंची थी। इसलिए सभी राजनीतिक दलों ने भी उनकी निंदा की और सुप्रीम कोर्ट ने भी आशीष नंदी को जुबान संभालकर बोलने की नसीहत दी। पर, हिन्दी साहित्य के शंकराचार्य बन चुके नामवर सिंह को ऐसी किसी स्थिति का सामना करना नहीं पड़ा। कुछ दलित लेखकों को छोड़कर किसी भी लेखक ने उनके दलित-विरोधी और अलोकतान्त्रिक बयान की निंदा तक करना उचित नहीं समझा। हिन्दी के किसी 'छोटे शंकराचार्य' ने भी उन्हें जुबान संभालकर बोलने की नसीहत नहीं दी। वे इससे भी पहले लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ के एक सम्मेलन में इससे भी बड़ा दलित-विरोधी बयान दे चुके थे। वे कह चुके थे कि यदि दलितों को आरक्षण जारी रहा, तो एक दिन ऐसा आएगा, जब ब्राह्मण-ठाकुरों के बच्चों को नौकरियां मिलनी बंद हो जाएंगी और वे भीख मांगेंगे। यद्यपि उसी सम्मेलन में संभवतः सुभाषचंद्र कुशवाहा और वीरेंद्र यादव ने उनका विरोध किया था, पर असल विरोध तो पूरे प्रगतिशील लेखक संघ को नामवर सिंह के खिलाफ प्रस्ताव पारित करके करना चाहिए था। यदि उसी समय हिन्दी के द्विज लेखकों ने उन्हें जुबान संभालकर बोलने की नसीहत दे दी होती, तो वे दिल्ली में दस पुस्तकों के विमोचन-समारोह में दलित जाति के अजय नावरिया की किताब देखकर आपे से बाहर होकर पुनः दलित-विरोधी और गैर जिम्मेदाराना बयान देने की हिमाकत नहीं करते। संभवतः आशीष नंदी लोकतंत्र का पाठ अब तक सीख चुके होंगे, पर नामवर सिंह को लोकतंत्र का पाठ कौन सिखाएगा ? यह वैसा ही सवाल है कि बिल्ली के गले में घंटी कौन बांधे ? शंकराचार्य को जवाब देने का दुस्साहस कौन करेगा ? आखिर सवाल अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का भी तो है। आशीष नंदी जब घिर गए, तो उन्होंने इसी अधिकार का सहारा लेकर चंद्रभान प्रसाद और कांचा आयलैया जैसे बड़े दलित चिंतकों तक दौड़ लगाई और उन्होंने आशीष नंदी के पक्ष में लेख लिखे। आखिर दलित चिंतकों की भी महत्वाकांक्षाएं होती हैं, इससे इनकार कैसे किया जा सकता है ?

लेकिन इधर विश्वविद्यालयों में पिछले दस-पंद्रह वर्षों में जो परिवर्तन हुए हैं, दरअसल, नामवर सिंह उसी से चिंतित हैं। ये परिवर्तन क्या हैं ? ये परिवर्तन दो स्तरों पर हुए हैं। एक, शिक्षकों के पदों पर भर्ती में आरक्षण लागू हुआ। इससे जहां दलितों का प्रवेश वर्जित था या सवर्णों की मर्जी पर निर्भर करता था, वहां उनके लिए पढ़ने और पढ़ाने दोनों के रास्ते खुल गए। यहां भी एक और बड़ी क्रांति हुई। पिछली बार जब विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) के अध्यक्ष पद पर दलित प्रोफेसर और अर्थशास्त्री डा. एसके थोरात की ताजपोशी हुई, तो उन्होंने केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में एमफिल और पीएचडी करने वाले सभी छात्रों को क्रमशः तीन हजार और पांच हजार रुपये प्रति माह की छात्रवृत्ति योजना लागू की, जो आगे चलकर क्रमशः पांच और आठ हजार रुपये प्रति माह हो गई थी। इस योजना से दलितों को बहुत लाभ हुआ, क्योंकि शोध का क्षेत्र अब उनके लिए आसान हो गया था। इसी समय थोरात वाली यूजीसी ने अलग से दलित छात्रों के लिए राजीव गांधी छात्रवृत्ति योजना भी लागू की, जिसके तहत उन्हें एमफिल के लिए बारह हजार और पीएचडी के लिए सोलह हजार रुपये प्रति माह छात्रवृत्ति मिलने लगी। इससे पूर्व यूजीसी के किसी भी सवर्ण अध्यक्ष ने यह छात्रवृत्ति योजना लागू नहीं की थी। इसका कारण यही था कि वे उच्च शिक्षा के क्षेत्र को अपने वर्ण तक ही सीमित रखना चाहते थे। यदि वे थोरात की भूमिका निभाते, तो दलितों को लाभ पहुंचाते और अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार लेते। लेकिन परिवर्तन के समय को न समझने वाले वे सवर्ण कुल्हाड़ी के वार से कब तक बचते ? डा. थोरात ने यह कुल्हाड़ी इतनी जोर से मारी कि हिन्दी के शंकराचार्य तिलमिला गए। अब विश्वविद्यालयों में एमफिल और पीएचडी करने वाले दलित छात्रों की भरमार है और लगभग हर फैकल्टी में दलित प्रोफेसर हैं, वे रीडर भी हैं, डीन भी हैं, विभागाध्यक्ष भी हैं, निर्देशक भी हैं और कुलपति भी हैंऔर अगले दस-बीस सालों में इतना कुछ होने वाला है कि विश्वविद्यालयों में सवर्ण प्रभुओं की स्थिति न नियंत्रक की रह पाएगी और न निर्णायक की। नामवर सिंह की असल चिंता यही है। वे यह जो कहते हैं कि ब्राह्मण-ठाकुरों के बच्चों को नौकरी नहीं मिलेगी, तो नौकरी तो मिलेगी, लेकिन योग्यता के आधार पर मिलेगी, उनकी वह

अब इन द्विजाचार्यों की चिंता यह है कि उन्हें परिवर्तन की लहर को स्वीकार करना मुश्किल हो रहा है। उन्हें यह हजम नहीं हो रहा है कि इतने सारे रिसर्च स्कॉलर दलितों में कैसे हो गए ? वे इतनी अच्छी अंग्रेजी कैसे बोलने लगे हैं ? वे विदेशी विश्वविद्यालयों में भी लेक्चर देने कैसे जाने लगे हैं

मनमानी नहीं चलेगी, जो वे पहले चलाते रहे हैं। दूसरे उनकी वह जागीरदारी भी खत्म हो जाएगी, जहां वे नियंत्रक और निर्णायक हुआ करते थे। प्रसंगवश मैं यहां यह बताना चाहता हूं कि नामवर सिंह जैसे द्विजाचार्यों ने अपने समय में विश्वविद्यालयों में क्या किया था ? उन्होंने जिसको चाहा, उसे पीएचडी करायी और जिसको चाहा, दुत्कार दिया। जिसे चाहा उसे उन्होंने नौकरी दी और जिसे चाहा अयोग्य बताकर बाहर का रास्ता दिखा दिया। अपने घर के सदस्यों को विश्वविद्यालय के खर्चे पर विदेश भेजा, जिसे चाहा सोवियत लैण्ड भेजा, खुद भी विदश घूमे और अपने लिए सारे पुरस्कार बटोरे और यह सब विश्वविद्यालय और सरकार के खर्चे पर किया। अगर आजादी के बाद का इन विश्वविद्यालयों का रिकार्ड जांचा जाएगा, तो भारत का अब तक का सबसे बड़ा आर्थिक घोटाला सामने आएगा, जिसे इन्हीं द्विजाचार्यों ने अंजाम दिया है।

अब इन द्विजाचार्यों की चिंता यह है कि उन्हें परिवर्तन की लहर को स्वीकार करना मुश्किल हो रहा है। उन्हें यह हजम नहीं हो रहा है कि इतने सारे रिसर्च स्कॉलर दलितों में कैसे हो गए ? वे इतनी अच्छी अंग्रेजी कैसे बोलने लगे हैं ? वे विदेशी विश्वविद्यालयों में भी लेक्चर देने कैसे जाने लगे हैं ? वे यह जान रहे हैं कि ये सब आरक्षण के बल पर हुआ है और इसी रास्ते से दलित साहित्य और दलित विमर्श भी विश्वविद्यालयों में पहुंचा है। इसलिए नामवर सिंह अब साहित्य में आरक्षण और दलित विमर्श दोनों को गरिया रहे हैं। वे कह रहे हैं कि 'दलित विमर्श से दलितों का भी भला नहीं होगा, जबकि सच्चाई यह है कि यह सारा परिवर्तन और दलितों का भला दलित विमर्श से ही हुआ है। इसी 'परिवर्तन' और 'दलित हित' को नामवर सिंह गंदगी कहते हैं। जब वे कहते हैं कि साहित्य में आरक्षण से राजनीति की तरह साहित्य का क्षेत्र भी गंदा हो जाएगा, तो उनका मतलब यही 'परिवर्तन' और 'दलित हित' होता है। लेकिन दलित उनके निहितार्थ को जानते हैं। इसलिए अब उन्हें उनकी नसीहत की जरूरत बिल्कुल भी नहीं है। बेहतर यही होगा कि वे अपनी सोच को लोकतान्त्रिक बना लें और भूल जाएं कि अब कोई 'सवर्ण-युग' आने वाला है।

कंवल भारती सुप्रसिद्ध दलित चिंतक हैं। समाज, राजनीति और साहित्य-संस्कृति पर उन्होंने कई चर्चित किताबें लिखी हैं